

दलित विमर्श

सारांश

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जो समाज वर्षों से उपेक्षा का शिकार रहा है या उसको समाज में मान-सम्मान नहीं मिला। आज भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लगभग 72 वर्ष होने के बाद भी उनकी स्थिति में किसी प्रकार का ज्यादा बदलाव नहीं दिखाई देता। उनको भी सामान्य धारा के साथ लेकर चलना है, तभी देश का एवं दलितों का विकास संभव हो सकता है। दलित मसीहा डॉ. अंबेडकर ने किसी नेता का वेश धारण नहीं किया, उनका पाखण्ड में विश्वास नहीं था, लेकिन जननेता के रूप में भारतीय राजनीति के शीर्ष पर रहकर दलितों को सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक विचारधारारें जो समाज में चलती हैं, उनके साथ जोड़ना है। साहित्य के माध्यम से उनको समाज की अग्रिम पंक्ति में स्थान दिलाने के लिए प्रयासरत हैं।

मुख्य शब्द : दलित विमर्श, दलित साहित्य।

प्रस्तावना

“एक टहनी, एक दिन पतवार बनती है।
एक चिंगारी दहक, एक दिन अंगार बनती है।
जो सदा रौंदी गई है।

एक दिन, वही मिट्टी, मिनार बनती है।”

वास्तव में दलित शब्द का अर्थ जाति बोधक नहीं, बल्कि समूह की अभिव्यंजना देता है। सामान्य अर्थों में दलित वह है, जो भारतीय समाज व्यवस्था में अस्पृश्य माना गया, बेकारी करते, कम मूल्य पर श्रम करते श्रमिक, बंधुआ, मजदूर जिसका आर्थिक शैक्षणिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक शोषण हुआ है, वह दलित की परिधि में आता है। दलित साहित्य प्रतिबद्धता की अभिव्यक्ति है। जब दलित शब्द साहित्य से जुड़ता है तो एक ऐसी साहित्यिक धारा की ओर संकेत करता है, जो मानवीय सरोकार और संवेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति बनता है।

दलित विमर्श स्वरूप एवं संकल्पना

दलित साहित्य का केन्द्र बिन्दू मानव है। सुप्रसिद्ध दलित साहित्यकार बागुल जी का मानना है कि “मनुष्य की मुक्ति को स्वीकार करने वाला मनुष्य को महान् बनाने वाला, वंश, वर्ग और जाति श्रेष्ठतम का प्रबल विरोध करने वाला दलित साहित्य ही हो सकता है।” हिन्दी साहित्य को दलित साहित्य में छायावादी और प्रगतिशील साहित्य के संदर्भ में भी अनुभूति और स्वानुभूति की प्रमाणिकता की बात की जाती है। लेकिन दलित साहित्यकार इसे आत्माभिव्यक्ति ही स्वीकार करते हैं।

अध्ययन का उद्देश्य

संसार में कोई भी कार्य बिना उद्देश्य के नहीं होता अर्थात् उसके पीछे कोई न कोई उद्देश्य अवश्य छिपा रहता है। ऐसे में दलित विमर्श का उद्देश्य भी दलितों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना। शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है, जिससे हम दलित समाज के लोगों को जागृत करने में सक्षम हो सकते हैं। लगभग 72 वर्षों की आज़ादी के बाद भी उनको समाज में वह सम्मान नहीं मिल रहा, जो उनको मिलना चाहिए। हम तब तक प्रयासरत रहेंगे, जब तक दलितों को शिक्षा, सम्मान, नौकरी सर्व उच्च जातियों के बराबर नहीं मिल जाती। तभी हम सही मायने में दलित विमर्श को समझने में कामयाब होंगे, यही हमारा ध्येय एवं उद्देश्य है।

उद्भव और विकास

प्राचीन भारतीय इतिहास पलटने पर दलित वर्ग की ऐतिहासिकता पर प्रकाश पड़ता है प्राचीन भारत की जानकारी सामान्यतया ईसा पूर्व 1599 से मिलती है, जैसा कि हम इतिहास से जानते हैं कि वर्तमान भारतीय सभ्यता के



सुशीला

सहायक प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग,
चौधरी बंसीलाल
विश्वविद्यालय,
भिवानी, हरियाणा

निर्माता वैदिक जन थे। उनका दर्शन ब्राह्मणवाद रहा, इसे भारतीय दर्शन भी कहते हैं, दलित वर्ग सदैव से संघर्षशील समाज का अविभाज्य अंग रहा है। आदिकाल से आज तक दलित दशा पर यदि विचार करें तो, अनेक परिवर्तनों के बावजूद उसका मूल संघर्ष आज भी यथावत् है। दलित शब्द 19 वीं सदी से सुधारवादी आंदोलन काल की उपज है अर्थात् इस शब्द का प्रयोग सवा सौ साल से ज्यादा समय से हो रहा है और तभी से इस शब्द की अर्थ व्याप्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद है। इस प्रकार से दलित शब्द का वर्तमान रूप में आधुनिक है, लेकिन यह भी सही है कि दलितपन या दूसरे शब्दों में कहें तो इस शब्द से जुड़ी भावना प्राचीनकाल में ही उत्पन्न हो गयी थी। व्युत्पत्ति के आधार पर पहले इसके अर्थ को देखा जाए तो दलित शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की धातु 'दल' से हुई है। जिसका अर्थ है तोड़ना, दलना, कुचलना। मानक हिन्दी अंग्रेजी शब्दकोषों में दलित शब्द के लिए डिप्रेस्ड यह शब्द मिलता है। इसके अतिरिक्त डाउनट्रोडेन यह शब्द भी मिलता है।

इस प्रकार दलित शब्द के विभिन्न शब्दकोषों में विभिन्न अर्थ संदर्भ मिलते हैं। हिन्दू समाज का विचार करें तो हिन्दू समाज श्रेणीब(समाज है जिसका आधार वर्ण व्यवस्था है। यह वर्णव्यवस्था चार भागों में न होकर श्रेणीब(समाज है जिसका आधार वर्ण व्यवस्था है। यह वर्णव्यवस्था चार भागों में विभाजित न होकर पाँच सोपानों में विभाजित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पंचम वर्ग। यह पंचम वर्ग उस शूद्र वर्ग से अलग है, जो अस्पृश्यता अथवा छुआछूत से ग्रस्त नहीं है। पंचम वर्ग अतिशूद्र और अछूत अथवा अस्पृश्य भी कहलाता है। आगे चलकर हिन्दी साहित्य में आत्मकथाएं उपन्यास, कहानी, कविता और जनान्दोलनों के द्वारा यह बात सामने लाई गई कि देश में मनुष्य को किस सीमा तक हीन समझता है। यह एक वैचारिक आन्दोलन है। इसमें पुरानी परम्पराओं का उल्लेख, संतों का स्मरण केवल पूजन का माध्यम है। इसमें आजादी के बाद तक के दलित चिंतन का आधुनिक विमर्श से सीधा वास्ता नहीं है। यह दलित-विमर्श मुख्य रूप से उन पढ़े-लिखे लोगों का कमाया हुआ सच है।

दलित विमर्श स्वरूप एवं व्याप्ति

दलित साहित्य के अधिकांश साहित्यकार व्यवहारिक रूप से दलित शब्द का उपर्युक्त अर्थ ही ग्रहण करते हैं। हालांकि सैद्धांतिक रूप से कोई दलित चिंतको-साहित्यकारों ने दलित शब्द को उपेक्षाकृत एक व्यापक अर्थ में ग्रहण करने की वकालत की है, लेकिन इस व्यापक दृष्टिकोण की सीमाओं को समझना जरूरी है। इस बात पर भी विचार कर लिया जाए कि प्राचीनकाल के अन्त्यज अथवा कल के हरिजन आज स्वयं को दलित कहना अधिक पसंद क्यों करते हैं।

अतः स्पष्ट है कि दलित शब्द एक और जहां इस शोषित पीड़ित समुदाय की वेदना, पीड़ा और छटपटाहट को अभिव्यक्त करता है, वहीं दूसरी ओर यह विद्रोह और मुक्ति की प्रेरण भी देता है। एक नये समाज की आकांक्षा, जो समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व पर आधृत है। ऐसी ही अभिव्यंजना दलित शब्द से ध्वनित

होती है और यही दलित चेतना और दलित साहित्य की पृष्ठभूमि में भी दृष्टिगोचर होती है।

प्रेरणा एवं प्रभाव

दलित विमर्श हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं में दलित आलोचना दिखाई देती है दलित साहित्य धर्म पर आधारित परम्पराओं, रूढ़ियों और विचारों में प्रति विद्रोह है। यही विद्रोह हिन्दू धर्म पर आधृत परम्पराओं, रूढ़ियों और विचारों से है और उस समाज के विरुद्ध, जिनमें उन्हें पद दलित, शूद्र और अस्पृश्य नाम देकर अन्याय, अत्याचारों के द्वारा अपने मन में छिपी बर्बरता का पूरा पूरा परिचय दिया। यह कहना उचित होगा कि दलित-साहित्य केवल विद्रोह का प्रतिकार नहीं है। दलित विमर्श का मुख्य स्वर इस समाज व्यवस्था के प्रति आक्रोश और विद्रोह है। वस्तुतः यह साहित्य दया या सहानुभुति की भीख नहीं मांगता। प्रेमचन्द के अतिरिक्त अनेक ऐसे साहित्यकार हुए, जिन्होंने अनुभूति प्रेरित दलितों कहानियाँ लिखी। जिनमें प्रमुख हैं – मुद्राराक्षस की प्रतिहिंसा, महेश कटार की बगल में रहता सच, इनसे दलित विमर्श की प्रेरणा मिली। यद्यपि दलित लेखकों द्वारा दलित साहित्य का निर्माण अल्प ही है। 'हैरी कब आयेगा', सूरजपाल चौहानद्व इसका अतिरिक्त उपन्यास के क्षेत्र में 'मुक्ति पर्व', नैमिशरायद्व, 'जूठन' ओमप्रकाश बाल्मीकि, 'जस तस भई सवेर', सत्य प्रकाशद्व विशेष उल्लेखनीय है। इन कहानी तथा उपन्यासों में बेबस, मेहनतकश, शोषित, पीड़ित और दलितों की करुण चीखें अभिव्यक्त मिली है। साथ ही दलित-चेतना एवं विमर्श को पूर्ण शक्ति के साथ विद्रोही चेतना का स्वर प्रखर होकर सामने आया है और ऐसे साहित्य का प्रभाव दलित विमर्श पर पड़ा दिखाई देता है।

आंबेडकर वादी विचारधारा

दलित साहित्य दलित समाज की अस्मिता की वास्तविक पहचान कराने वाला साहित्य है। यही आंबेडकरवादी विचारधारा है, जो साहित्यकारों द्वारा साहित्य में संभव होती, इसी धरातल पर आकर साहित्यकार और गैर साहित्यकार अलग हो जाता है। इस तरह बहुजन पीड़ा दुःख – दर्द को नहीं अभिव्यक्त कर रहा बल्कि सामाजिक अन्याय उनके आक्रोश भी करके उसमें उसमें आंबेडकरवादी विचारधारा को विस्तार बिन्दू स्वानुभूति, सहानुभुति अन्तर स्पष्ट है। इसे हम बार-बार कह चुके हैं कि जो साहित्य दलितों द्वारा लिख गया उसे किसी में शामिल किया जाये, क्योंकि यह तो उनके कटु अनुभवों के बीच गुरजते व जातिगत भेदभाव उत्पन्न, छुआछूत को अत्याचारों अमानवीय स्थितियों, उत्पीड़न, नृशंस रूप मानसिक स्तर झेलते दिखाई देते हैं। डॉ० बाबा साहेब आंबेडकर का यही महत्त्व है कि उन्होंने विक्टोरियन- गर्व और खान-पान तथा रहन-सहन में कोई परिवर्तन नहीं किया। उनका पाखण्ड में विश्वास नहीं था। यही कारण है कि भारतीय राजनीति में जनता के आदमी के रूप में तेजस्वी और प्रतिभाशाली नेता डॉ० आंबेडकर का उदय हुआ है सन् 1973 में स्थापित बमसेफ को बाबा साहेब आंबेडकर के निर्वाण दिन को सन् 1978 में पुनः सशक्त बनाने का प्रयास किया गया। दलित मसीहा डॉ० आंबेडकर ने किसी नेता का वेष धारण नहीं किया, उनका पाखण्ड में विश्वास नहीं था, लेकिन

जननेता के रूप में भारतीय राजनीति के शीर्ष पर रह कर दलितों को सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष का एहसास कराया। दलित विमर्श पूर्ण रूप से आंबेडकर वादी विचाराधारा पर टिका है।

हिन्दी साहित्य

साहित्य जीवन की समग्रता को समेटने वाला शास्त्र होता है। उसके पीछे जो सर्जना होती है, उसमें इतनी विविधता होनी चाहिए कि वह एक समग्र और संक्षिप्त सौन्दर्यशास्त्र का आधार बन सके। मराठी की तुलना में अभी हिन्दी का दलित साहित्य बहुत समृद्ध है। कुछ आत्मकथाएँ हैं, जो मराठी दलित आत्मकथाओं की तरह का सघन प्रभाव छोड़ती हैं, कुछ उत्कृष्ट कहानियाँ भी अपना प्रभाव छोड़ती हैं। कविता भी बहुत कम है और वह भी बहुत स्तरीय नहीं है। आवेशजन्य प्रतिक्रियाएँ कविता नहीं बनाती। प्रगतिशील आन्दोलन के आरम्भिक दौर में ऐसी तमाम रचनाएँ सामने आयी थी, जिनमें तत्व कम था भाग बहुत। शब्दों के जरिए पूंजीवाद को ध्वस्त कर दिया गया था, क्रांति भी सम्पन्न कर ली गई थी। परन्तु वास्तविक जीवन में सब कुछ पहले जैसा था। ऐसी रचनाओं को क्या हथ्र हम जानते हैं। वही रचनाएँ प्रगतिशील सर्जना का मानक बनी, जिनमें सामाजिक यथार्थ के मध्यनजर जिन्दगी को देखा था। जनता के जीवन के सजीव बिम्ब थे और जिन्दगी की विषमताओं, विसंगतियों की खरी पहचान। हिन्दी साहित्य बहुआयामी, बहुविध, रचनाशीलता के बिना जो भी सौन्दर्यशास्त्र आएगा वह अधूरा होगा। दलित लेखन में संभावनाएँ हैं, प्रतिभाएँ हैं, जीते-जागते अनुभव हैं, स्वानुभूति की बंधक पूंजी है। उनका उपयोग भी दलित लेखकों ने किया। यह क्रमशः हिन्दी के साहित्य में होता रहा है।

भारतीय परिवर्तनवादी चिंतन परम्परा

भारतीय हिन्दी साहित्य में परिवर्तनवादी चिंतन परम्परा का आरम्भ हम आधुनिककाल से मान सकते हैं हालांकि दलितों के लिए भारतीय चिंतन परम्परा संघर्षशील जीवन में भोगा गया यथार्थ, गरीबों का दंश, तिरस्कार आदि वेदना को अनेक दलित लेखक। लेखिकाओं ने अपने साहित्य में विमर्श का निर्माण किया है।

निष्कर्ष

दलित विमर्श, भारतीय परिवर्तनवादी चिंतन परम्परा में दलित लेखक वर्ग के यथार्थ के आगे सोचना ही नहीं चाहते, जबकि वर्ण की हकीकत को मानत हुए भी कम से कम हमारा उनसे यही आग्रह रहा है कि वे वर्ग का बड़ी वास्तविकता को भी स्वीकार करें। दलित जिस यातना के अनुभव से गुजरें हैं, प्रेमचन्द, जगदीशचन्द्र या दूसरे जिन गैर-दलित लेखकों ने दलितों पर लिखा है, सचमुच उस यातना का वैसा अनुभव भारतीय परिवर्तनवादी चिंतन परम्परा में होता है। या नहीं यह बात निश्चित रूप से संदेह जनक है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दलित चेतना का उदय विकास – डा. शिवचरण चंडवाल, पृ. सं. 17
2. भारतीय चिंतन परम्परा – महात्मा फुले, पृ. सं. 37
3. दलित विमर्श – डॉ. नरसिंहदार बनकर, पृ. सं. 25
4. संसद से सड़क तक – धूमिल, पृ. सं. 13
5. दलित साहित्य बुनियादी सरोकर : कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. सं. 21
6. दलित साहित्य में जयप्रकाश कर्दम, पृ. सं. 39
7. दलित साहित्य उद्देश्य और वैचारिक— बाबूराव बागुल, पृ. सं. 76